

धार्मिक मताग्रह एवं शिक्षा

□ रोहित धनकर

शिक्षा समाज की जटिल संरचना में सक्रिय विभिन्न घटकों के बीच चलने वाली प्रक्रिया है जो इनसे प्रभावित होती है और इन्हें प्रभावित भी करती है। राज्य-सत्ता, धर्म, संस्कृति और आर्थिकी कुछ ऐसे ही घटक हैं। लेकिन ऐसा कोई घटक शिक्षा को नियंत्रित करने का प्रयास करता है तो इससे शिक्षा की मूल प्रकृति विकृत होती है। समाज में ज्ञान और विवेक के उत्कर्ष को यदि शिक्षा का ध्येय मानें तो पूर्वग्रह मुक्त, स्वतंत्र परिवेश उसके लिए मूल शर्त है जिसमें सत्य, नैतिकता और मूल्यों की समग्र एवं वस्तुनिष्ठ व्याख्या संभव है। शिक्षा से सत्ता, धर्म, संस्कृति और आर्थिकी के संबंधों पर अवधारणामूलक विश्लेषण की इस लेख से शुरुआत की जा रही है।

वर्तमान काल में समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए किसी ना किसी प्रकार की नियोजित शैक्षिक प्रक्रिया से गुजरना आवश्यक माना जाता है। इस मान्यता के पक्ष में दिये जाने वाले तर्कों में से अधिकांश जीवनयापन की क्षमताओं के विकास से संबंधित होते हैं। पर साथ ही लोगों को शासित एवं सुनियंत्रित किये जा सकने योग्य बनाने से लेकर स्वायत्त बनाने तक का पराश भी इस मान्यता के पक्ष पोषण के लिए प्रस्तुत किया जाता है। बहरहाल सभी यह जानते एवं मानते हैं कि शिक्षा जीवनयापन के लिए आवश्यक दक्षताओं के अलावा जीवन दृष्टि का विकास करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती या निभा सकती है। जिन्हें शिक्षित किया जाता है वे क्या सोचें, क्या चाहें, क्या सपने संजोयें, यह सब भी प्रभावित किया जा सकता है। अर्थात् लोगों के संपूर्ण चिंतन एवं कर्म-क्षेत्र को शिक्षा के माध्यम से प्रभावित किया जा सकता है।

राज्यसत्ता पर अधिकार का इच्छुक प्रत्येक समूह या व्यक्ति दूसरों को नियंत्रित या संचालित करने में रुचि रखता है। राज्य सत्ता की इच्छा चाहे स्वयं के महिमा मण्डन और अधिकार भोग के लिए हो या फिर किसी विचारधारा के अनुसार आदर्श समाज के निर्माण के लिए हो; हर स्थिति में सामान्य जन के चिंतन एवं व्यवहार को प्रभावित करना सत्ता बनाये रखने के लिए लाजमी होता है। अतः सत्ताशीन और सत्ता चाहने वाले लोग शिक्षा-तंत्र पर नियंत्रण के सतत् प्रयास करते रहते हैं। यह उन्हें सत्ता पर काबिज रहने या होने में मददगार लगता है। राज्य सत्ता शिक्षा को जनमानस पर नियंत्रण के एक उपकरण के रूप में देखती है।

जनमानस पर नियंत्रण का एक दूसरा इतिहास सिद्ध उपकरण धर्म रहा है। धर्म शब्द का उपयोग यहां मजहब या रिलिजन के समानार्थक शब्द के रूप में किया जा रहा है। संस्कृत साहित्य एवं भारतीय चिंतन में पाये जाने वाले व्यापक अर्थों में नहीं।

राज्य सत्ता पर नियंत्रण के लिए धार्मिक मान्यताओं एवं तदजनित भावनाओं का सभी समाजों एवं कालों में खूब उपयोग हुआ है। राज्य-तंत्र की तरह धर्म का तंत्र भी सामाजिक विकास के आरंभिक दौर में ही अस्तित्व में आ जाता है। जो तबके इन दोनों तंत्रों को नियंत्रित करते रहे हैं उनमें आपसी सहयोग एवं सत्ता के बंटवारे की एक शानदार परंपरा रही है। इनका चोली-दामन का साथ रहा है। एक दूसरे को पुष्ट करते रहने में, अपने वर्चस्व के लिए एक दूसरे का उपयोग करते रहने में। पर साथ ही दोनों में एक भीतरी प्रतिद्वंद्विता भी लगातार ही चलती रहती है। धर्म-तंत्र को नियंत्रित करने वाले लोग राज्य-तंत्र को भी नियंत्रित करना चाहते हैं तथा राज्य तंत्र को नियंत्रित करने वाले लोग धर्म-तंत्र पर भी काबिज होना चाहते हैं। अतः इतिहास में बहुत बार ये दो तबके एक दूसरे में घुलमिल गये हैं। सामाजिक जीवन के नियंत्रण का काम राज्य-तंत्र करता रहा है और सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन के लिए आदर्श प्रस्तुति का काम धर्म-तंत्र करता रहा है।

लोगों के जीवन और चिंतन को प्रभावित एवं संचालित करने में रुचि रखने वाला एक तीसरा तंत्र भी सामाजिक विकास के आरंभिक काल में ही अस्तित्व में आ जाता है। इस तीसरे तंत्र को बाजार व्यवस्था या बाजार तंत्र कहा जा सकता है। इस तंत्र को अधिक व्यापक अर्थ व्यंजना एवं अधिक सम्मान प्रदर्शित करने वाला नाम अर्थ-व्यवस्था दिया जाता है। अर्थ-व्यवस्था बाजार व्यवस्था में निहित उत्पादन एवं विनिमय को तो समाहित करती ही है, साथ ही समाज में किये जाने वाले आवश्यक कार्यों के नियमन एवं बाजार के नियमन का भान भी देती है। पर यह नाम बाजार-व्यवस्था में निहित एवं सदा पाये जाने वाले भोंडेपन को छुपाता भी है। अतः इस आलेख में यथा स्थान इन दोनों ही नामों का उपयोग किया जायेगा। बाजार व्यवस्था मूलतः सामाजिक जीवन जीने के

लिए आवश्यक वस्तुओं एवं सेवाओं को उपलब्ध बनाने से संबंध रखती है। पर यह सत्ता के तीसरे दावेदार के रूप में भी उभरती है। यह धर्म और राज्य सत्ता दोनों को अपने अप्रत्यक्ष अन्दाज में प्रभावित करती है और नियंत्रण की आकांक्षा सदैव रखती है।

वर्तमान समाज में ये तीनों ही तंत्र अपने काफी विकसित रूप में हैं। किसी तंत्र के विकसित होने के विभिन्न आयामों में से एक आयाम उस का व्यक्ति निरपेक्ष अस्तित्व होना भी है। व्यक्ति निरपेक्ष (सीमित अर्थों में ही) होने का तरीका संस्थानिक ढांचा बना देना होता है, जिसमें व्यक्ति बदलते रह सकें। तंत्र की शक्तियां व्यक्ति में नहीं संस्थाई ढांचों में बने विभिन्न पदों में निहित मानी जाती हैं। फिर भी जो व्यक्ति इन पदों पर होते हैं वे संपूर्ण तंत्र के स्वरूप एवं स्वभाव को परिभाषित करने में अपनी भूमिका या प्रभाव रखते हैं। साथ ही तंत्र भी इन पदों पर चाहे कोई भी व्यक्ति आये उसे, उसके चिंतन एवं कार्यशैली को, प्रभावित करते ही हैं। इस तरह यह एक अति गत्यात्मक संबंध बनता है। विकसित होने का दूसरा आयाम है लोगों के जीवन पर नियंत्रण। अर्थात् जीवन के कितने भाग को नियंत्रण में ले लिया गया है और वह नियंत्रण कितना कारगर होता है। यह आयाम इन तंत्रों की सत्ता को परिभाषित करता है। आज सामाजिक और व्याक्तिगत जीवन के बहुत कम पहलू बचे हैं जो इन तंत्रों की सत्ता से बाहर रह गये हों।

जैसा पहले जिक्र किया जा चुका है शिक्षा बलात् नियंत्रण के तरीकों को छोड़कर एक प्रकार का सूक्ष्म और स्वचालित नियंत्रण प्राप्त करने के औजार के रूप में प्रयुक्त की जा सकती है। अतः ये तीनों ही तंत्र शिक्षा की प्रक्रियाओं पर प्रत्यक्ष या परोक्ष नियंत्रण करने का सदैव प्रयत्न करते रहते हैं। इस आलेख में मूलतः धर्म के शिक्षा पर नियंत्रण के तरीकों, प्रभावों और इस नियंत्रण से होने वाले फायदे नुकसान का विश्लेषण करने का प्रयत्न करेंगे। पर वर्तमान परिस्थितियों में अकेले धर्म के शिक्षा पर नियंत्रण को समझना यथेष्ट नहीं है। बाजार एक बहुत सशक्त नियंत्रण शिक्षा पर प्राप्त करता जा रहा है। और इस नियंत्रण के प्रभाव या कुप्रभाव भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। यह सब स्वीकार करते हुए भी इस लेख में केवल धर्म पर विचार करेंगे। शिक्षा के क्षेत्र में धर्म के हस्तक्षेप की बात तभी स्पष्ट हो पायेगी जब हम पहले धर्म के स्वभाव पर थोड़ा विचार कर लें तथा शिक्षा की भूमिका पर भी कुछ विचार कर लें।

धर्म की कोई सर्वमान्य परिभाषा दिया जाना संभव नहीं है। दुनिया में बहुत सारे धार्मिक मत-मतान्तर हैं और उनमें कुछ भी सामान्य नहीं है जिस पर धर्म की परिभाषा टिक सके। ईश्वर या कोई मानवेतर चेतन सत्ता जो मानव से कहीं अधिक समर्थ एवं ज्ञानी है (बहुधा सर्व शक्तिमान और सर्वज्ञ) अधिकतर बड़े धर्मों के मूल में पाई जाती है। पर इसके महत्वपूर्ण अपवाद भी हैं। जैसे जैन धर्म और बौद्ध धर्म की कुछ शाखाएं। यह ठीक है कि इन धर्मों में भी कम से कम सामान्य जन के लिए बुद्ध या महावीर को भगवान के नजदीक पहुंचा दिया जाता है। फिर भी प्रत्येक धर्म की किसी ना किसी ईश्वर में आस्था होती है, यह दावा नहीं किया जा सकता। केवल इतना कहा जा सकता है कि बहुधा धार्मिक मनोवृत्ति सहज ढंग से किसी परासत्ता में विश्वास की तरफ मुखातिब रहती है। इस से अधिक दृढ़ता से यह कहा जा सकता है कि सभी धर्म मानव के वर्तमान जीवन के बाद भी उसके किसी ना किसी रूप में अस्तित्व को स्वीकारते हैं। चाहे वह अस्तित्व देह रहित आत्मा के रूप में हो या देह-युक्त आत्मा के रूप में। अधिकतर धर्म उस अस्तित्व को बेहतर एवं आनन्द युक्त बनाने के लिए प्रवृत्त रहते हैं और कुछ उस अस्तित्व को महाशून्य में विलीन करने के लिए। पर, आशा की नजर से

देखें या आशंका की, सभी धर्म वर्तमान जीवन के समाप्त होने पर भी मानव के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। मुझे लगता है कि इसी जीवन को पहला और अंतिम मान लिया जाये तो धर्म की संभावना नहीं रह जायेगी।

धर्मों में दूसरी सामान्य बात उपरोक्त मान्यता पर आधारित है एवं इसी में से निकलती है। वह है मुक्ति की इच्छा। यह इच्छा जीवन के चक्र को समाप्त करके अनिर्वचनीय स्थिति में जाने के लिए हो, चाहे इस से बेहतर और अधिक आनन्द युक्त जीवन की कामना के रूप में अभिव्यक्त हो, सभी धर्मों में पाई जाती है। धार्मिक नैतिकता, पूजा, अर्चना-स्तुति और विभिन्न कर्मकाण्ड इसी मुक्ति की आकांक्षा के इर्द-गिर्द बुने जाते हैं। वर्तमान जीवन का आदर्श स्वरूप वह माना जाता है जो इसके बाद आने वाले जीवन को अधिक आनन्दयुक्त और परिपूर्ण बनाये या उसकी संभावना से छुटकारा दिलाये।

धर्मों में समान रूप से पाई जाने वाली तीसरी चीज है किसी समुदाय या समूह का सदस्य होने की इच्छा। यह कोई विशिष्ट

धार्मिक चरित्र वाली इच्छा नहीं है पर सभी धर्मों में पाई अवश्य जाती है । विशेष रूप से धर्म के व्यावहारिक और लौकिक रूप में। धर्म में रुचि रखने वाले लोग अपने आप को किसी समूह विशेष के सदस्य के रूप में देखना चाहते हैं । यह उनके विश्वासों और मान्यताओं को बल देता है । उन की अपनी पहचान बनाता है । वे अपने आप को इसी तादात्म्य के आधार पर परिभाषित करने लगते हैं । बहुधा धर्म को व्यक्तिगत मामला कहने का रिवाज है । पर यदि यह हिस्सा होने की इच्छा धार्मिक भावना का एक महत्वपूर्ण पक्ष है तो धर्म लाजमी तौर पर एक सामूहिक विश्वास के रूप में ही उभरता है ।

मानव एक आत्मचेता प्राणी है । अतः उसे इन प्रश्नों का सामना करना ही पड़ता है कि उसका वास्तविक स्वरूप क्या है ? उसके अस्तित्व का उद्देश्य क्या है ? इन प्रश्नों का उत्तर जगत के संदर्भ में ही मिल सकता है । अतः जगत की उत्पत्ति और संचालन संबंधी प्रश्नों का सामना भी उसे करना ही पड़ता है । मौटे तौर पर शायद हम कह सकते हैं कि धर्म विश्वासों, मान्यताओं और सिद्धांतों के ऐसे ढांचे का नाम है जो इन प्रश्नों के उत्तर देने की कोशिश या दावे करता है । पर इन प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयत्न करने वाले सभी वैचारिक ढांचे धर्म नहीं होते । धार्मिक ढांचों की एक खासियत यह होती है कि उनकी आधारभूत मान्यतायें आस्था की जमीन पर खड़ी होती हैं ।

उनमें तर्कबुद्धि के दखल को सीमित रूप में ही स्वीकार किया जाता है । तर्क का उपयोग धर्म मूलतः अपनी मूल मान्यताओं में संगति सिद्ध करने के लिए तथा तदनुसार अन्य विचारों के विकास के लिए ही करता है । इसी प्रयास में धर्मशास्त्र का विकास होता है । पर तर्क-बुद्धि को धर्म में मूल मान्यताओं पर ईमानदारी से सवाल उठाने की इजाजत नहीं होती । उनका आधार तर्कबुद्धि और अनुभवजनित ज्ञान नहीं होकर विशुद्ध आस्था होती है ।

बहुधा कहा जाता है कि तर्क बुद्धि और अनुभवजनित ज्ञान के सहारे अस्तित्व के स्वरूप एवं उद्देश्यों संबंधी प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ने में भी आस्था की उतनी ही भूमिका होती है जितनी कि धर्म संबंधी मान्यताओं में । इस बात में कुछ हद तक सच्चाई हो सकती है । पर दोनों प्रकार की आस्थाओं में कई महत्वपूर्ण फर्क हैं । वर्तमान विश्लेषण में हमारे काम आने वाले दो फर्कों का यहां जिक्र कर देना ठीक रहेगा । एक, तर्क बुद्धि में आस्था अपने आप में, अपनी समझने की क्षमताओं में, आस्था है । जबकि धार्मिक मान्यताओं में आस्था का केन्द्र अपनी स्वयं की सत्यशोधन की क्षमता से इतर कहीं और होता है । तर्क बुद्धि की सीमाएं इसमें विश्वास रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को पता होती है । अतः अपनाई गई मान्यताओं के

अंतिम तौर पर एवं एक मात्र सत्य होने का दावा नहीं रहता । वे उस क्षण सर्वश्रेष्ठ या सर्वाधिक उचित मान्यतायें भर रहती हैं । अतः दूसरी मान्यताओं के प्रति एक सहनशील रवैया बना रहता है तथा ज्ञान के विकास के प्रयत्न सदा चालू रहते हैं । जबकि धार्मिक मान्यताओं में एक मात्र एवं अंतिम सत्य का दावा अधिक मुखर होता है । इन दो बातों के प्रकाश में देखें तो पायेंगे कि तर्कबुद्धि के आधार पर विश्व एवं अपने आप को समझने के जज्बे को आस्था कहना अघोषित रूप से आस्था शब्द के अर्थ को बदल देना होता है । तर्कबुद्धि अंध आस्था का सतत् विरोध करती है । किसी मान्यता को प्रश्नों से ऊपर होने का दर्जा नहीं देती । जबकी धार्मिक आस्था लगभग सभी मूल मान्यताओं को प्रश्नों से बचाना चाहती है ।

अब यह तो आवश्यक नहीं की प्रत्येक व्यक्ति अपने व मानव जाति के अस्तित्व की प्रकृति एवं उद्देश्य संबंधित सवालों का सामना तर्क बुद्धि से ही करे । और तर्क-बुद्धि को स्वीकार भी करे तो उसी को एकमात्र आधार माने । साथ ही मानव जितना हाड़-मांस का पुतला है उससे अधिक नहीं तो उसके बराबर ही विचारों का पुंज भी है । उसके लिए अपनी अस्मिता गढ़ना एवं अपने अस्तित्व को उचित ठहराना जरूरी होता है । तर्क बुद्धि के रास्ते पर अपने कर्मों के लिए उत्तरदायित्व एवं शंका का एक धीमा दबाव सतत् बना रहता है । जीवन के कठिन क्षणों में यह दबाव असहनीय स्तर तक बढ़ भी सकता है । ऐसी स्थिति में धार्मिक मान्यताओं को स्वीकार करके सुनिश्चितता और दैवी सत्ता की रहनुमाई या सामूहिक अस्मिता में शरण ली जा सकती है । यह एक गहरा सुकून दे सकता है और स्पष्ट मार्ग दर्शन भी । सामाजिक स्तर पर, इस माध्यम से , वह एक नैतिक रूप से जिम्मेवार एवं करुणा से ओतप्रोत भला मानुस बन सकता है और व्यक्तिगत स्तर पर परिपूर्ण जीवन जीने वाला सुखी प्राणी । ऐसे लोगों के हजारों उदाहरण हैं ।

पर धार्मिक मान्यताओं की प्रकृति एवं धार्मिक भावना का मूल चरित्र मिलकर मानस पर और भी प्रभाव डालते हैं । क्योंकि मूल मान्यतायें आस्था पर आधारित होती हैं । उनको उचित ठहराने के लिए तो तर्क-बुद्धि का उपयोग करने की स्वतंत्रता धर्म-तंत्रों में की जाती है पर उनमें असंगति पर प्रश्न खड़े करने की नहीं । तर्क बुद्धि के प्रति इस असंगत रवैये के कारण उन मान्यताओं की सत्यता का आधार कहीं और ढूँढ़ना पड़ता है । यह आधार विश्वास करने वालों की सामान्य आस्था में ढूँढ़े जाते हैं । अर्थात् धार्मिक मान्यताओं में आस्था बनाये रखने के लिए एक समूह की बेशाखी आवश्यक हो जाती है । परिणाम स्वरूप इस समूह का आकार एवं वर्चस्व बढ़ाना उसे अपनी आस्था पर टिके रहने एवं उसे दृढ़ करने के लिए आवश्यक लगता है । बात यहीं खत्म नहीं होती । किसी भी धार्मिक

समूह में मूल मान्यताओं की विभिन्न व्याख्यायें हो सकती है। तथा जीवन के लिए आवश्यक नैतिकता एवं व्यवहार के विभिन्न नियम एक ही प्रकार की मूल धार्मिक मान्यताओं के आधार पर बनाये जा सकते हैं। पर यह विभिन्नता मत-मतान्तर पैदा करती है और इसमें समूह के बिखर जाने का खतरा पैदा होता है। ऐसी स्थिति में समूह की आस्था में एकरूपता बनाये रखने के लिए विशेष प्रयत्न करने पड़ते हैं। अतः धार्मिक समूह का कोई ना कोई औपचारिक या अनौपचारिक सांगठनिक ढांचा बनता है। मूल मान्यताओं के आधारभूत ग्रंथ बनते हैं और उन ग्रंथों की अधिकारिक व्याख्या करने वाले निकाय या लोग पैदा होते हैं। परिणाम स्वरूप लोगों का एक ऐसा समूह तैयार होता है जो अपनी धार्मिक मान्यताओं में धर्मगुरुओं की बात पर तर्कबुद्धि से सोचने से परहेज रखता है। जो आस्था मूलतः मान्यताओं और सिद्धांतों पर बनी थी वह व्यक्तियों और संगठनों पर अंधश्रद्धा में परिणित हो जाती है। यह समूह धर्म से संबंधित सभी चीजों को लेकर अति संवेदनशील हो जाता है। धर्म, उसकी मूल मान्यताओं, संगठन, धर्मगुरु, धर्मग्रंथों एवं अन्य प्रतीकों की आलोचना न स्वयं करता है तथा न ही दूसरों को करने देता है। मानसिक रूप से धार्मिक नेताओं द्वारा नियंत्रित एवं उपरोक्त चीजों की किसी भी प्रकार की आलोचना से आहत होने के लिए तैयार बैठा रहता है।

जैसा कि पहले कहा गया है शिक्षा से अपेक्षा होती है कि वह लोगों में जीवन-दृष्टि का भी विकास करे। जीवनदृष्टि में नैतिक मूल्यों का विकास आवश्यक रूप से समाहित होता है। और नैतिक मूल्य मानव और जगत के मूल स्वरूप एवं उनकी मूल प्रकृति संबंधी धारणाओं से प्रभावित होते हैं। परिणाम स्वरूप जिन मूल प्रश्नों से धर्म संबंधित होता है, शिक्षा की प्रक्रिया में भी उन प्रश्नों पर विचार करने की सामर्थ्य पैदा करना आवश्यक होता है। पर किसी विषय पर विचार की सामर्थ्य के विकास करने और किन्हीं मान्यताओं के रूढ़ प्रतिस्थापन या उनके लिए अनुकूलन में फर्क होता है। रूढ़ प्रस्थापन और अनुकूलन में विवेचनात्मक-चिंतन के लिए कोई स्थान नहीं होता, जबकि विचार की सामर्थ्य का आधार ही विवेचनात्मक-चिंतन होता है। अतः शिक्षा में उन्हीं मूल प्रश्नों पर विवेचनात्मक-चिंतन आवश्यक हो जाता है जिन पर धर्म मान्यताओं के रूढ़-प्रस्थापन या अनुकूलन का आग्रह करता है। जनतांत्रिक समाज में शिक्षा के लिए समालोचनात्मक चिंतन और भी आवश्यक हो जाता है क्योंकि विभिन्न धर्म नैतिक एवं

जीवन संबंधी प्रश्नों के विभिन्न उत्तर देते हैं, जो एक दूसरे के विरोधी भी होते हैं। अतः जीवन और जगत संबंधी मूल मान्यताओं पर शिक्षा और धर्म के रख एक दूसरे के विरोधी हो जाते हैं।

इस सबके बावजूद शिक्षा में धार्मिक मान्यताओं, धारणाओं, मतों एवं भावनाओं को स्थान देने की बात बार-बार उठती है। शिक्षा में धर्म को शामिल करने का आग्रह मूलतः दो प्रकार के तर्कों के आधार पर किया जाता है। एक, यह कहा जाता है कि धर्म नैतिकता को आधार प्रदान करता है। अतः शिक्षा में नैतिक मूल्यों के विकास की बात जब भी की जाती है कुछ लोग धर्म को केन्द्र में लाना चाहते हैं। दूसरी बात, अपनी संस्कृति को समझने एवं उससे जुड़ाव पैदा करने के लिए धर्म का सहारा आवश्यक बताया जाता है। विशेष रूप से हमारे देश में। अगले कुछ अनुच्छेदों में इन दोनों तर्कों की जांच का प्रयत्न करेंगे। और फिर धार्मिक मताग्रहों को शिक्षा में शामिल करने के संभावित परिणामों पर विचार करेंगे।

नैतिक मूल्यों के साथ समस्या यह है कि वे देश-काल सापेक्ष होते हैं। एक ही समाज में भी नैतिक मूल्यों को लेकर विभिन्न मत पाये जाते हैं। कुछ वर्ष पहले तक भारतीय समाज में ही जहां कुछ लोग जीव हत्या को अनुचित मानते थे, वहीं दूसरे लोग शिकार को क्षत्रियोचित कर्म मानते थे। विवाह-विच्छेद और यौन-संबंधों के बारे में विभिन्न समाजों के मूल्यों में फर्क तो है ही, वर्तमान भारतीय समाज में भी स्थिति बहुत तेजी से बदल रही है। दूसरी समस्या नैतिक मूल्यों की यह है कि उनमें टकराहट की स्थितियां पैदा हो जाती हैं। “दूसरों को दुख देना बुरा है” और “किसी की संपत्ति को बलात् छीनना भी अनुचित है,” पर गुर्दे के मरीज से उसके अपने धन से कानूनी तौर पर खरीदी हुई शराब की बोतल छीन लेना बहुत लोगों को उचित लगेगा। यहां एक तरफ “दूसरों को दुख नहीं देना चाहिये” और “किसी की संपत्ति को बलात् नहीं छीनना चाहिये” जैसे मूल्य हैं और दूसरी तरफ “जीवन रक्षा” है। बोतल छीनने वाला “जीवन रक्षा” के मूल्य को दूसरे दोनों मूल्यों से अधिक महत्वपूर्ण मान रहा है। ये दो स्थितियां-मूल्यों का देश काल सापेक्ष होना तथा उनमें टकराहट की स्थिति पैदा होना- उनके औचित्य स्थापन के सवाल खड़े करती हैं। उनके सापेक्ष महत्व को आंकने के सवाल खड़े करती हैं। “दूसरों को दुख नहीं देना चाहिये” क्यों? “सदा सच बोलना चाहिये” क्यों? इन मूल्यों को स्वीकार करने के क्या आधार हैं?

बहुत प्रयत्न करने के बाद अब नीति-शास्त्र पर सोचने वाले लगभग सभी लोग यह स्वीकार करते हैं कि नैतिक वक्तव्य को शुद्ध तर्क के आधार पर उचित सिद्ध नहीं किया जा सकता। तर्क को काम में लेने के लिए कुछ स्वीकृत आधार वाक्य चाहियें। किसी नैतिक वाक्य को तर्क द्वारा उचित सिद्ध करने के लिए भी आधार वक्तव्य की आवश्यकता होगी। और उन स्वीकृत आधार वाक्यों में से कम से कम एक वाक्य स्वयं नैतिक वक्तव्य होगा।

अब समस्या इन नये नैतिक वक्तव्यों को उचित ठहराने की आ खड़ी होगी। और इसे तर्क द्वारा उचित ठहराने के लिए एक नया नैतिक वक्तव्य आधार वाक्य के रूप में आवश्यक होगा। यह शृंखला अनन्त रूप से चलती रहेगी। या फिर कोई ना कोई नैतिक वक्तव्य बिना तर्क के स्वीकार करना पड़ेगा।

उदाहरण के लिए “झूठ नहीं बोलना चाहिए” को ही ले लें। इस नैतिक वक्तव्य से कम से कम सार्वजनिक तौर पर तो सभी सहमत होंगे। पर यदि कोई पूछे – क्यों नहीं बोलना चाहिये झूठ? इस को उचित ठहराने के आधार क्या हैं? तो इसे उचित ठहराने के लिए मोटे तौर पर दो रास्ते लिये जा सकते हैं। एक, कोई इस तरह की बात कहे कि झूठ बोलना दूसरों को धोखा देना है, और दूसरों को धोखा नहीं देना चाहिये। इस रास्ते में हम एक और नैतिक वक्तव्य “धोखा नहीं देना चाहिये” ले आये हैं। साथ ही कह रहे हैं कि झूठ बोलना धोखा देने का एक प्रकार है। अर्थात् एक अधिक व्यापक नैतिक वक्तव्य के आधार पर इसे सिद्ध करना चाहते हैं। पर यह पूछा जा सकता है कि धोखा क्यों नहीं देना चाहिये? अब हमें एक और नैतिक वक्तव्य की आवश्यकता होगी, इसे सिद्ध करने के लिए। अतः यह रास्ता केवल वहीं खत्म होगा जहां तार्किक रूप से “क्यों?” पूछना संभव नहीं हो। दूसरा रास्ता यह कहना हो सकता है कि झूठ बोलने से लोग विश्वास करना छोड़ देंगे और विश्वास नहीं करने से जीना दूभर हो जायेगा। यह व्यावहारिक परिणामों के अप्रिय होने का डर दिखाना है। व्यावहारिक परिणामों के कारण बहुत कुछ माना तो जा सकता है, शायद यह बहुत बार उचित भी होता है, पर यह तर्क द्वारा सिद्ध करना नहीं हुआ। साथ ही इस प्रकार के कारण को वही व्यक्ति स्वीकार करेगा जो जीना दूभर होने को या तो नैतिक दृष्टि से अनुचित मानता हो या उससे डरता हो। यदि नैतिक दृष्टि से अनुचित मानता हो तो इसे सिद्ध करना पड़ेगा। यदि बात डर की है तो ऐसे व्यक्ति की कल्पना की जा सकती है जो जीना दूभर होने से डरता नहीं। क्या जीना दूभर होने से न डरने वाले व्यक्ति के लिए झूठ बोलना उचित है? उचित कहने से तो नैतिक मूल्य पूरी तरह व्यक्ति सापेक्ष हो जायेंगे। अतः व्यावहारिक कारण व्यक्ति विशेष को कोई व्यवहार करने या न करने के लिए कारण तो हो सकते हैं

पर नैतिकता का तार्किक आधार प्रस्तुत नहीं कर सकते। साथ ही इस प्रकार के व्यावहारिक कारण नैतिकता के विचार के विरुद्ध भी हो सकते हैं। इसके उदाहरण के लिए दूर नहीं जाना पड़ेगा। झूठ बोलने से होने वाले तात्कालिक फायदों के लिए झूठ बोले जाने के के सैंकड़ों उदाहरण रोज मिलते हैं और वे इसी व्यावहारिक कारण का एक रूप हैं।

तो फिर नैतिक दृष्टि से उचित या अनुचित का निर्णय कैसे हो? लोगों के पास किसी नैतिक सिद्धांत को स्वीकारने के क्या आधार हो सकते हैं? यह नीति शास्त्र का एक गंभीर प्रश्न है। इसके विभिन्न उत्तर दिये गये हैं। या उत्तर देने के विभिन्न प्रयत्न हुए हैं। पर कोई भी अभी तक प्राप्त उत्तर पूरी तरह से संतोषजनक नहीं है। कुछ लोगों का यह दावा है कि धर्म नैतिकता को समुचित आधार प्रदान कर सकता है। आगे हम यह देखने की कोशिश करेंगे कि इस दावे में कितना सार है।

धर्म द्वारा नैतिकता का समुचित आधार प्रदान करने की बात दो अर्थों में की जाती है। एक, यह कि धर्म नैतिक मूल्यों को, उचित-अनुचित की कसौटी को, तार्किक आधार प्रदान कर सकता है। जिस चीज को शुद्ध तर्क के आधार पर स्थापित नहीं किया जा सकता, वह धर्म के सहयोग से स्थापित की जा सकती है। दो, यह कि धर्म तर्क के आधार पर तो नहीं पर मनोवैज्ञानिक आधार पर नैतिक मूल्यों की स्वीकृति को संभव बनाता है। अर्थात् किसी धर्म में आस्था रखने वाले लोग अनास्थावान लोगों की तुलना में नैतिक मूल्यों को स्वीकार करने के लिए ज्यादा असानी से प्रेरित हो जाते हैं।

पहले यह देखते हैं कि धर्म किसी नैतिक मूल्य को उचित ठहराने के लिए क्या तर्क दे सकता है। उदाहरण के लिए यही लें कि ‘झूठ नहीं बोलना चाहिए’ क्यों? धर्म का एक सीधा उत्तर होता है – क्योंकि ईश्वर ने झूठ बोलने को गलत करार दिया है। यह तर्क पश्चिमी धर्मों के चिंतन से अधिक मेल खाता है। पर भारतीय धर्मों में भी इसके विभिन्न स्वरूप मिल ही जाते हैं। धर्म ने इस उत्तर पर दो प्रकार के सवाल उठाये जा सकते हैं। एक, यदि ईश्वर इस को गलत करार नहीं देता तो क्या झूठ बोलना उचित होता? यदि हां तो नैतिकता का आधार ईश्वर की इच्छा है। वह जिसे चाहे नैतिक बना दे, जिसे चाहे अनैतिक। अपने आप में कुछ नैतिक है, न ही अनैतिक। किसी चीज को नैतिक या अनैतिक बनाने के लिए ईश्वर को किसी प्रकार के कारणों की जरूरत नहीं है। बस, वह तो तय भर कर देता है। इस प्रकार के अधिनायकवादी ईश्वर की बात मुझे क्यों माननी चाहिये? इस प्रकार के तर्क का अंत यहां होगा

कि न मानने पर वह मेरा अहित कर सकता है । या निश्चित रूप में दण्ड देगा । यहां आकर यह तर्क उसी पुराने व्यावहारिक कारण में बदला जाता है । लेकिन समस्या यहीं खत्म नहीं होती । मुझे कैसे पता कि ईश्वर ने झूठ बोलने को गलत करार दिया है ? उत्तर होगा धर्म ग्रंथों में लिखा है । ईश्वर ने किसी संत, ऋषि, पैगम्बर, मसीह को बताया है । पर कैसे पता कि इन सज्जनों को ईश्वर ने ही बताया है ? उन्हें भ्रम नहीं हो गया या वे जानबूझ कर ऐसा प्रचारित नहीं कर रहे ? इस की कोई कसौटी नहीं है । अतः नैतिकता को ईश्वर की मर्जी पर टिकाना प्रश्न को तार्किक रूप से हल करना नहीं बल्कि कुछ देर के लिए टरकाना भर है । तर्क की दृष्टि से तो समस्या उतनी ही गंभीर रहती है ।

लेकिन धार्मिक नैतिकता सदा ही ईश्वर और उसकी मर्जी पर नहीं टिकी रहती । यह भी कहा जाता है कि नैतिक मूल्य तो अपनी जगह पर हैं ही । ईश्वर उनके पालन का सुफल देता है । इस जन्म में नैतिक मूल्यों का पालने करने से अगले जन्म में स्वर्ग मिलेगा या मोक्ष मिलेगी या निर्वाण प्राप्त होगा । आदि । यहां भी तर्क के लिहाज से समस्या वही रहती है । क्योंकि इन सब मान्यताओं का ही कोई तार्किक आधार नहीं है । अतः नैतिक जीवन जीने के लिए सिद्धांतों की पहचान में, उचित-अनुचित के निर्णय को समझ कर करने में तो धर्म कोई मदद नहीं कर सकता ।

दूसरी बात यह कही जाती है कि तर्क का आधार चाहे न दे सके धर्म व्यक्ति को नैतिक मूल्यों को अपनाने एवं तदनुसार व्यवहार करने को प्रेरित करता है । उन्हें स्वीकार करने का मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान करता है । क्योंकि सभी धार्मिक मान्यताओं में अच्छे काम करने एवं बुरे काम न करने की हिदायत की जाती है । यह एक ऐसा दावा है जिस की सच्चाई व्यापक सामाजिक अध्ययन करके ही सिद्ध की जा सकती है । क्या धार्मिक प्रवृत्ति रखने वाले लोग ईश्वर एवं किसी भी धर्म में विश्वास न रखने वालों से अधिक नैतिक होते हैं ? ऐसा कोई अध्ययन आज तक किया नहीं गया है । इतिहास में, और आज भी, धर्म में आस्था की बढ़-चढ़ कर घोषणा करते रहने वाले लोगों में भी खूब अनैतिक व्यवहार करते पाये जाते हैं । इसी प्रकार धर्म में आस्था न रखने वाले लोगों में भी नैतिक दृष्टि से अच्छे लोग पाये जाते हैं । अतः

यह एक ऐसा दावा है जो बढ़-चढ़ कर किया जाता है, पर इसे साबित करने के लिए कोई प्रमाण नहीं दिये जाते ।

नैतिकता को धर्म पर टिकाने की और भी समस्यायें हैं । एक यह कि सभी धर्म क्या अच्छा है और क्या बुरा इसमें एक मत नहीं है । और उनमें से बहुत से अपने आप को एकमात्र सत्य के रूप में भी प्रस्तुत करते हैं । साथ ही किसी भी धर्म के नैतिक विधान में सभी इंसानों की बराबरी नहीं पाई जाती । धर्मों के बारे में इंसानी बराबरी के दावे बढ़-चढ़ कर किये जाते हैं । पर वे सब थोड़ी सी जांच पड़ताल से ही असत्य साबित हो जाते हैं । जनतांत्रिक समाज के लिए तो धार्मिक नैतिकता किसी भी तरह से उपयुक्त नहीं होगी । नतीजे के तौर पर कहा जा सकता है कि नैतिक मूल्यों को स्वीकारने एवं उनके अनुसार आचरण करने में तो धर्म से कोई मदद नहीं मिलती है । अतः शिक्षा में नैतिकता के विकास के लिए तो धर्म को शामिल करने की आवश्यकता नहीं है ।

दूसरी बात यह कही जाती है कि संस्कृति को समझने, उससे प्रेम के लिए धर्म को शिक्षा में स्थान दिया जाये । यह सही है कि सभी संस्कृतियों के विकास में धर्मों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है । चिंतन के तरीकों एवं उपकरणों के विकास से लेकर, संगीत, कला, रीतिरिवाज एवं

जीवन के तौर तरीकों के विकास तक धर्म का प्रभाव रहा है, धर्म से मदद मिली है । प्रेरणा मिली है । पर साथ ही ज्ञान एवं विज्ञान के विकास में धर्म ने अपने अपने समाज में रोड़े भी अटकाये हैं । समाज में चिंतन एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा मानवीय समता के संदर्भों में सभी धर्मों की भूमिका नकारात्मक भी रही है । इसके अलावा कम से कम भारतीय संस्कृति को समझने के लिए तो धर्म में आस्था की नहीं, उसकी तर्क-बुद्धि के सहारे विवेचना की आवश्यकता है । धर्म की तर्क-बुद्धि के सहारे विवेचना करने में ईश्वर के अस्तित्व पर, धर्म ग्रंथों की सत्यता पर, धर्म गुरुओं की व्याख्या पर, संतों की शिक्षाओं पर, पैगम्बरों और मसीहों की अधिकारिकता पर प्रश्न उठेंगे । विवेचना का अर्थ ही मान्यताओं की तर्क के आधार पर जांच होता है । अतः उन प्रश्नों का जबाब धमका कर आस्था के बल पर नहीं दिया जा सकेगा । न ही धार्मिक भावनाओं के आहत होने के डर से किसी सार्थक सवाल का गला घोटा जा सकेगा । विभिन्न विचारों का तुलनात्मक, तार्किक अध्ययन

शिक्षा तर्क के सहारे संस्कृति का अतिक्रमण करती है । यही गतिशील प्रक्रिया संस्कृति के सतत् विकास एवं सतत् पुर्ननवीकरण की प्रक्रिया है । जब जब संस्कृति इस प्रक्रिया से डरकर इसे बाधित करने की कोशिश करती है वह स्वयं जड़त्व की तरफ बढ़ती है । जड़त्व संस्कृति के स्थायित्व एवं चिरंतनता को बढ़ाता नहीं है बल्कि यह उस का क्षरण करता है ।

करना पड़ेगा। शिक्षा को यह काम अवश्य करना चाहिये। इस अर्थ में धर्म को शिक्षाक्रम का हिस्सा न बना कर हम शिक्षा को अधूरा रख रहे हैं। क्या धार्मिक मान्यताओं पर इस प्रकार की विवेचना शिक्षा के माध्यम से उन लोगों को स्वीकार है जो शिक्षा का आध्यात्मिकीकरण करना चाहते हैं? यदि नहीं तो यह सवाल संस्कृति को समझने, उससे प्रेम का नहीं, मतारोपण का है।

शिक्षा और संस्कृति का रिश्ता एक बहुत गतिशील रिश्ता है। संस्कृति की पृष्ठभूमि के बिना शिक्षा की न तो आवश्यकता है और न ही यह संभव है। पर शिक्षा का काम संस्कृति विशेष की धारणाओं को नई पीढ़ी पर थोप देना नहीं है। बल्कि सतत विवेचन के द्वारा उन धारणाओं का सतत परिष्कार करते रहना है। परिणामतः शिक्षा संस्कृति का वह अंग बन जाती है जो सतत आत्म विवेचना में सलग्न है। और इस तरह शिक्षा तर्क के सहारे संस्कृति का अतिक्रमण करती है। यही गतिशील प्रक्रिया संस्कृति के सतत विकास एवं सतत पुनर्नवीकरण की प्रक्रिया है। जब जब संस्कृति इस प्रक्रिया से डरकर इसे बाधित करने की कोशिश करती है वह स्वयं जड़त्व की तरफ बढ़ती है। जड़त्व संस्कृति के स्थायित्व एवं चिरंतनता को बढ़ाता नहीं है बल्कि यह उस का क्षरण करता है। अतः संस्कृति को समझने और उससे प्रेम करने का तरीका मतारोपण नहीं, बल्कि उस की चिंतन प्रक्रिया में उठने वाले प्रश्नों पर निर्भीक और मौलिक चिंतन को बढ़ावा देना है। धर्म का चरित्र इससे ठीक उलटा है। धार्मिक मतारोपण संस्कृति को समृद्ध करने के स्थान पर उसे जड़ बनायेगा। उसे देश-काल विशेष के चिंतन एवं मान्यताओं में जकड़ कर रख देगा।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि शिक्षा के माध्यम से धार्मिक मतारोपण को उचित नहीं ठहराया जा सकता। यहां पर धार्मिक मतारोपण के संदर्भ में एक और बात पर ध्यान देना जरूरी है वह यह कि मतारोपण का प्रयास एक से अधिक रूपों में पाया जाता है। किसी धर्म विशेष की मान्यताओं को अविवेचित रूप से शैक्षिक प्रक्रिया में शामिल कर देना इसका सर्वाधिक आग्रही रूप है। ऐसे प्रयत्नों का विरोध भी खुल कर होता है। पर इसके अधिक सूक्ष्म रूप भी हैं। उनमें से एक रूप है सर्वधर्म समभाव के नाम पर सभी धर्मों से संबंधित मान्यताओं एवं भावनाओं को अविवेचित रूप से शैक्षिक प्रक्रियाओं में स्थान देना। यह भी धार्मिक मतारोपण का ही स्वरूप है। बच्चों को तर्क-हीन बात को स्वीकार करने के लिए तैयार करने का एक कारगर तरीका है क्योंकि विभिन्न धर्मों की मान्यतायें एक दूसरे की विरोधी भी होती

हैं, अतः यह तरीका बालक को विरोधी बातें एकसाथ सच मानने को अभ्यस्त बनाता है। परिणाम स्वरूप वैचारिक संगतता का कोई मूल्य नहीं रह जाता। और इसके अभाव में विवेकशील निर्णय का कोई आधार नहीं रह जाता। सत्य-असत्य पर चिंतन के बजाय उसे अधिकारी विद्वानों के आप्त वचन के आधार पर स्वीकार करना ही एक मात्र रास्ता रह जाता है। फलस्वरूप यह शिक्षा के मूल उद्देश्यों की प्राप्ति में बाधक कदम बनता है।

शिक्षा में धार्मिक मतारोपण के तीसरे तरीके को मतारोपण का नकारात्मक तरीका कहा जा सकता है। यह है शिक्षा की प्रक्रिया में उन विचारों और विवेचनाओं का विरोध करना जिन्हें धर्म विशेष से संबंधित लोग पसंद नहीं करते। यहां किसी धर्म विशेष के मत को शिक्षा के माध्यम से सीधा प्रचारित करने का प्रयास नहीं होता। बल्कि उस सारे विचार को अवरुद्ध करने का प्रयास होता है जो आगे चलकर धार्मिक मान्यताओं पर प्रश्न खड़े करने की संभावनाओं को बढ़ा सकता है। फिर चाहे वे विचार अपने आप में धर्म से संबंधित ना हों। यह लोकतंत्र के एक मूल सिद्धांत-चिंतन एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता- पर सीधा आक्रमण करता है। और इस प्रकार शिक्षा को अपने मूल उद्देश्यों को प्राप्त करने के प्रयास करने से रोकता है।

धार्मिक मतारोपण के आरोपण के ये सभी तरीके मिले जुले रूप से काम करते हैं। जहां जो कारगर हो सके वही अपनाया जाता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है धार्मिक मतारोपण लोगों को (1) विवेकशील विवेचना से विमुख करते हैं, (2) उन्हें कुछ मुद्दों पर अतिसंवेदनशील बनाते हैं, (3) अपनी मान्यताओं को एकमात्र सत्य के रूप में देखने को प्रेरित करते हैं, तथा (4) धर्मगुरुओं एवं धार्मिक नेताओं के दृष्टिकोण को अविवेचित रूप से अपनाने की प्रेरणा देते हैं। समाज में शिक्षा के माध्यम से धार्मिक मतारोपण का परिणाम यह निकलता है कि इस प्रकार के अतिसंवेदनशील नागरिक समूह अपनी-अपनी भावनाओं और मान्यताओं को लेकर एक दूसरे के विरुद्ध खड़े हो जाते हैं, अतः संवाद भंग हो जाता है। ऐसी स्थिति में शिक्षा का काम न तो किसी धर्म विशेष का प्रचार करना है न सभी धर्मों कि छद्म से परिपूर्ण बराबर की प्रशस्ति करना। बल्कि सभी धर्मों की मान्यताओं की विवेक की रोशनी में निर्भीकता से जांचना और उस जांच के परिणामों को पूरी ईमानदारी से अभिव्यक्त करना है। ♦